

○ वीतराग-विज्ञान (अगस्त-मासिक) * 26 जुलाई 2010 • वर्ष 29 • अंक 1

सम्पादकीय

नियमसार : एक अनुशीलन

गाथा ५१ से ५५ और इनकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जो जीव निश्चयसम्यग्दर्शन प्रकट करता है उसको कौन निमित्त होता है - इसकी पहचान इस गाथा में कराई है। सम्यग्दर्शन में निमित्त भगवान की वाणी अथवा वाणी से रचित जिनसूत्र हैं।^१

जिनसूत्र के जाननेवाले पुरुष अन्तरंग निमित्त हैं। जिनसूत्र के मात्र शब्द निमित्त नहीं होते, अपितु जिनसूत्र के रहस्य को जानकर तदनुसार अन्तरंग परिणमन को प्राप्त ज्ञानी पुरुष, जिन्होंने स्वयं में सम्यग्दर्शन उपलब्ध कर लिया है; यद्यपि वे भी दूसरे के लिए सम्यग्दर्शन में अन्तरंग नहीं; तथापि वाणी और ज्ञानी पुरुष - इन दोनों निमित्तों में भेद-प्रदर्शन के लिए वाणी को बाह्य और ज्ञानी को अन्तरंग निमित्त कहा है।

यद्यपि ज्ञानी पुरुष पर हैं, फिर भी वे क्या कहना चाहते हैं; उस आत्मिक अभिप्राय को उनके समक्ष उपस्थित धर्म प्राप्त करनेवाला जीव जब पकड़ लेता है और अभिप्राय को पकड़ में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति हो जाती है, तब उस ज्ञानी पुरुष को जिससे उपदेश मिला है, अन्तरंग हेतु अथवा निमित्त कहा जाता है।^२

निश्चयसम्यक्त्व प्रकट हुए जीव को व्यवहारश्रद्धा कैसी होती है - वह बताते हैं। भगवान सर्वज्ञ वीतराग के अतिरिक्त अन्य किसी कुदेवादि में उसे श्रद्धा होती नहीं, पंचपरमेष्ठी के प्रति विपरीत अभिप्रायरहित सच्ची श्रद्धा होती है, वही श्रद्धा मोक्ष की सिद्धि का परम्परा हेतु है।

जीव को अपने कारणपरमात्मा की श्रद्धा है और उसी के आश्रय से मोक्ष प्राप्त होगा, इसलिए पंचपरमेष्ठी की श्रद्धा के राग को व्यवहार से परम्परा हेतु कहा है; तथा भगवान द्वारा कथित स्वरूप सम्बन्धी श्रद्धा में उसको कुछ भी दोष नहीं होता; भगवान ने स्वरूप कहा वैसे ही होगा, अथवा अन्य प्रकार से होगा - ऐसी चंचलता, मलिनता अथवा अगाढ़ता रहित श्रद्धान उसके होता है।^३

प्रथम व्यवहार की बात की, वह जानने के लिए है; परन्तु आदरणीय नहीं है, शुद्धचैतन्यस्वभाव एक ही आदरणीय है। आत्मा के अन्दर उदयभाव, क्षयोपशमभाव,

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४८०

२. वही, पृष्ठ ४८०-४८१

३. वही, पृष्ठ ४८२

उपशमभाव है, वह एकसमय की पर्याय है, पर्याय में से पर्याय आती नहीं। पूर्व पर्याय तो व्ययरूप है, परन्तु शुद्ध चैतन्यस्वभाव त्रिकाल शुद्ध है, उसके अवलम्बन से श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-तप की दृष्टि करना ही धर्म का कारण है। इसप्रकार जो जीव अपने स्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान करके लीनता करता है उसको अभूतपूर्व सिद्ध दशा प्रकट होती है। उस सिद्धदशा का कारण निजकारणपरमात्मा है।^१”

इन गाथाओं और उनकी टीका में भेदरत्नत्रय (व्यवहारत्नत्रय) और अभेदरत्नत्रय (निश्चयरत्नत्रय) का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ सम्यग्दर्शन के बाह्य सहकारी कारण (निमित्त) के रूप में वीतराग-सर्वज्ञ के मुखकमल से निकला हुआ, समस्त वस्तुओं के प्रतिपादन में समर्थ द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान को स्वीकार किया गया है और दर्शनमोहनीय के क्षयादिक के कारण ज्ञानी धर्मात्माओं को पदार्थ निर्णय में हेतुपने के कारण अंतरंगहेतु (निमित्त) उपचार से कहा गया है।

यद्यपि अन्य शास्त्रों में दर्शनमोहनीय के क्षयादिक को सम्यग्दर्शन का अंतरंग हेतु (निमित्त) और देव-शास्त्र-गुरु व उनके उपदेश को बहिरंग हेतु (निमित्त) के रूप में स्वीकार किया गया है; तथापि यहाँ ज्ञानी धर्मात्माओं को अंतरंग हेतु बताया जा रहा है।

प्रश्न – दर्शनमोहनीय के क्षयादिक का उल्लेख तो यहाँ भी है।

उत्तर – हाँ; है तो, पर यहाँ पर तो जिसका उपदेश निमित्त है, उस ज्ञानी के दर्शनमोहनीय के क्षयादिक की बात है और अन्य शास्त्रों में जिसे सम्यग्दर्शन हुआ है या होना है, उसमें दर्शनमोह के क्षयादिक की बात है।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि यहाँ ज्ञानी धर्मात्माओं को उपचार से अंतरंग हेतु (निमित्त) कहा है। यद्यपि उपचार शब्द के प्रयोग से बात स्वयं कमजोर पड़ जाती है; तथापि जिनगुरु और जिनागम की निमित्तता के अंतर को स्पष्ट करने के लिए ज्ञानी धर्मात्माओं को अंतरंग निमित्त कहा गया है।

जिनवाणी और ज्ञानी धर्मात्माओं में यह अंतर है कि जिनवाणी को तो मात्र पढा ही जा सकता है; पर ज्ञानी धर्मात्माओं से पूछा भी जा सकता है, उनसे चर्चा भी की जा सकती है। जिनवाणी में तो जो भी लिखा है, हमें उससे ही संतोष करना होगा; पर वक्ता तो हमारी पात्रता के अनुसार हमें समझाता है। वह अकेली वाणी से ही सब कुछ नहीं कहता, अपने हाव-भावों से भी बहुत कुछ स्पष्ट करता है। यही अंतर स्पष्ट करने के लिए यहाँ उक्त अन्तर रखा गया है।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव 'तथा एकत्व सप्तति में भी

कहा है' - ऐसा कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है -

(अनुष्टुभ्)

दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्वोध इष्यते।

स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः॥२६॥^१

(दोहा)

आत्मबोध ही बोध है, निश्चय दर्शन जान।

आत्मस्थिति चारित्र है युति शिवमग पहचान॥२६॥

आत्मा का निश्चय सम्यग्दर्शन है, आत्मा का बोध सम्यग्ज्ञान है और आत्मा में लीनता सम्यक्चारित्र है - ऐसा योग अर्थात् तीनों की एकरूपता मुक्ति का मार्ग है।

इस छन्द में निश्चय मोक्षमार्ग अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र और इन तीनों की एकतारूप निश्चय मोक्षमार्ग को संक्षेप में अत्यन्त सरल शब्दों में स्पष्ट कर दिया गया है।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज भी एक छन्द स्वयं लिखते हैं, जो इसप्रकार है -

(मालिनी)

जयति सहजबोधस्तादृशी दृष्टिरेषा

चरणमपि विशुद्धं तद्विधं चैव नित्यम्।

अघकुलमलपंकानीकनिर्मुक्तमूर्तिः

सहजपरमतत्त्वे संस्थिता चेतना च॥७५॥

(हरिगीत)

जयवंत है सद्बोध अर सद्दृष्टि भी जयवंत है।

अर चरण भी सुविशुद्ध जो वह भी सदा जयवंत है॥

अर पापपंकविहीन सहजानन्द आतमतत्त्व में।

ही जो रहे, वह चेतना भी तो सदा जयवंत है॥७५॥

सहजज्ञान जयवंत है, सहजदृष्टि भी सदा जयवंत है और विशुद्ध सहज चारित्र ही सदा जयवंत है। पापसमूह्रूपी कीचड़ की पंक्ति से रहित स्वरूपवाली सहजपरमतत्त्व में संस्थित चेतना भी सदा जयवंत है।

अधिकार के अन्त में समागत इस कलश में रत्नत्रयरूप मुक्तिमार्ग की जयवंतता-जीवन्तता को स्पष्ट करते हुए अन्तमंगलाचरण किया गया है।

१. पद्मनदिपंचविंशतिका : एकत्वसप्तति छन्द १४

व्यवहारचारित्र्याधिकार

(गाथा ५६ से गाथा ७६ तक)

नियमसार गाथा ५६

जीवाधिकार, अजीवाधिकार एवं शुद्धभावाधिकार के उपरान्त अब व्यवहार-चारित्र्याधिकार आरंभ करते हैं। इस अधिकार में अहिंसादि पंच व्रतों की चर्चा करते हैं। सबसे पहले ५६वीं गाथा में अहिंसाव्रत की चर्चा है। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

कुलजोगिजीवमगणठाणाइसु जाणिऊण जीवाणं ।

तस्सारंभ णियत्तण परिणामो होइ पढमवदं ॥५६॥

(हरिगीत)

कुल योनि जीवस्थान मार्गणस्थान जिय के जानकर ।

उन्हीं के आरंभ से बचना अहिंसाव्रत कहा ॥५६॥

कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान आदि को जानकर, उनके आरंभ से निवृत्तिरूप परिणाम पहला (अहिंसा) व्रत है।

इस गाथा के भाव को मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव तात्पर्यवृत्ति टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह अहिंसाव्रत के स्वरूप का कथन है। कुलभेद, योनिभेद, जीवस्थान और मार्गणास्थान के भेद पहले ४२वीं गाथा की टीका में कहे गये हैं। यहाँ पुनरुक्ति दोष के भय से उनके बारे में कुछ भी नहीं कहा जा रहा है। वहाँ कहे गये भेदों को जानकर उनकी रक्षा करने के भावरूप परिणति ही अहिंसाव्रत है। उन जीवों का मरण हो या न हो; प्रयत्नरूप परिणाम के बिना सावद्य का परिहार नहीं होता। अतः प्रयत्नपरायण व्यक्ति को ही हिंसा परिणति का अभाव होने से अहिंसाव्रत होता है।”

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“शुद्धभाव अधिकार में मात्र अभेद परम स्वभाव का ही आश्रय बतलाया था। यहाँ पर्याय का ज्ञान कराते हैं। परजीव की रक्षा या हिंसा तो आत्मा कर ही नहीं सकता; किन्तु मुनिराजों को जो अहिंसा का शुभ विकल्प उठता है, उसको यहाँ व्यवहार से अहिंसाव्रत कहा है।”

निश्चय से तो शुभभाव भी स्वरूप की हिंसा है; परन्तु व्यवहार में पाप के अभाव को अहिंसा कहते हैं। मुनिराजों को निश्चय से तो स्वभाव के आश्रय का ही

प्रयत्न है; परन्तु उसमें लीन न रह सकने की दशा में ऐसी व्यवहार अहिंसा का विकल्प होता है।^१”

इस गाथा में अहिंसा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि जीवों का घात हो या न हो, प्रयत्नरूप परिणाम के बिना सावद्य का परिहार नहीं होता। यही कारण है कि प्रयत्नपरायण व्यक्ति को ही हिंसा परिणति का अभाव होने से अहिंसाव्रत होता है।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव ‘तथा आचार्य समन्तभद्रदेव ने भी कहा है’ – यह कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है –

(शिखरिणी)

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।
ततस्तत्सिद्धयर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ॥२७॥^२

(हरिगीत)

अहिंसा परमब्रह्म है सारा जगत यह जानता।
अर गृहस्थ आश्रम में सदा आरंभ होता नियम से॥
बस इसलिए नमिदेव ने दो विध परिग्रह त्यागकर।

छोड़ विकृत वेश सब निर्ग्रन्थपन धारण किया॥२७॥

सारा जगत यह जानता है कि अहिंसा परमब्रह्म है। जिस आश्रम (गृहस्थ) की विधि में लेश भी आरंभ है; उस गृहस्थाश्रम में अहिंसा धर्म की पूर्णतः सिद्धि नहीं हो सकती। यही कारण है कि हे नमिनाथप्रभु! अत्यन्त करुणावंत आपने द्रव्य और भाव – दोनों प्रकार के परिग्रहों को तथा विकृत वेश को त्यागकर एवं परिग्रह से विरत होकर निर्ग्रन्थपना अंगीकार किया है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

“छठे गुणस्थान में मुनिराजों को पंच महाव्रत का विकल्प होता है, उसमें पर की हिंसा टली है। तथा स्वभाव का आश्रय प्रकट हुआ है अर्थात् अपने आत्मा की भी अहिंसा प्रकटी है। ऐसे मुनिराजों को जैसी परमब्रह्मरूप अहिंसा होती है, वैसी गृहस्थ को नहीं होती।^३

स्वभाव का भान और स्थिरता वाले मुनिराजों को शुभराग आता है, उस शुभराग को व्यवहार से अहिंसाव्रत कहते हैं। निश्चय से तो अन्तर में स्वभाव के

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४९७ २. वृहत् स्वयंभूस्तोत्र : ११९वाँ छन्द नमिनाथ भगवान की स्तुति
३. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४९८

आश्रय से जो वीतरागता है, वही अहिंसा है; वही धर्म है।^१”

इस छन्द में अहिंसा को परमब्रह्म कहा है और यह स्पष्ट किया है कि गृहस्थ अवस्था में इसका परिपूर्ण पालन संभव नहीं है। यही कारण है कि तीर्थंकरदेव गृहस्थावस्था त्यागकर मुनिधर्म अंगीकार करते हैं।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(मालिनी)

त्रसहतिपरिणामध्वांतविध्वंसहेतुः

सकलभुवनजीवग्रामसौख्यप्रदो यः ।

स जयति जिनधर्मः स्थावरैकैन्द्रियाणां

विविधवधविदूरश्चारुशर्माब्धिपूरः ॥७६॥

(हरिगीत)

त्रसघात के परिणाम तम के नाश का जो हेतु है।

और थावर प्राणियों के विविध वध से दूर है।

आनन्द सागरपूर सुखप्रद प्राणियों को लोक के।

वह जैनदर्शन जगत में जयवंत वर्ते नित्य ही ॥७६॥

जो जैनधर्म त्रसघात के परिणामरूप अंधकार के नाश का हेतु है, सम्पूर्ण लोक के जीवसमूह को सुख देनेवाला है, एकेन्द्रिय अर्थात् स्थावर जीवों की अनेकप्रकार की हिंसा से बहुत दूर है और सुन्दर सुख सागर की बाढ है; वह जैनधर्म जगत में जयवंत वर्तता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-

“स्वभाव के अवलम्बन से जितनी वीतरागता प्रकट हुई, उतनी तो निश्चय अहिंसा है और छठी भूमिका में शुभराग की वृत्ति उठने पर त्रस-स्थावर की हिंसा के परिणाम न हों, वह व्यवहार अहिंसा है।

सम्यग्दृष्टि के चौथे गुणस्थान में अभी स्वभाव का अवलम्बन हीन है तथा वहाँ एकेन्द्रिय के हिंसा के परिणाम भी होते हैं।^२

परजीव को बचा सके या मार सके, यह बात तो वस्तुस्वभाव में है ही नहीं। जैनधर्म तो अन्तरंग कारणपरमात्मा के अवलम्बन से जितनी वीतरागदशा प्रकटी वह है; वही परमार्थ से अहिंसा है, और बीच में जो शुभविकल्प आया, वह व्यवहार

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४९९

२. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५००-५०१

अहिंसा है। ज्ञानी जीव उस शुभराग से धर्म नहीं मानता, परमार्थ से तो वह उसका ज्ञाता ही है। निश्चयधर्म तो स्वाश्रय से प्रकट हुई वीतरागता ही है और शुभ के समय अशुभ नहीं होने दिया - इस अपेक्षा से उसे व्यवहारधर्म कहा जाता है।^१”

इस छन्द में अहिंसाव्रत का उपसंहार करते हुए कहा गया है कि त्रसघात से रहित, स्थावर जीवों के घात से विरक्त, आनन्दसागर अहिंसा-मयी जिनधर्म जयवंत वर्तता है और निरन्तर जयवंत वर्तता रहे।

नियमसार गाथा ५७

विगत गाथा में अहिंसाव्रत के स्वरूप का विवेचन किया गया है और अब इस गाथा में सत्यव्रत के स्वरूप का कथन करते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं ।

जो पजहदि साधु सया बिदियवदं होइ तस्सेव ॥५७॥

(हरिगीत)

मोह एवं राग-द्वेषज मृषा भाषण भाव को।

हैं त्यागते जो साधु उनके सत्यभाषण व्रत कहा ॥५७॥

मोह से अथवा राग-द्वेष से होनेवाले झूठ बोलने के भावों को जो साधु छोड़ते हैं; उन साधुओं को दूसरा व्रत होता है।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह सत्यव्रत के स्वरूप का कथन है। यहाँ ऐसा कहा गया है कि सत्य का प्रतिपक्षी परिणाम मृषापरिणाम है। वे मृषापरिणाम राग से, द्वेष से और मोह से होते हैं। जो आसन्नभव्य जीव साधु उक्त परिणामों को त्याग देता है; उस साधु को दूसरा व्रत होता है।”

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“अज्ञानी को स्वरूप की अनुपलब्धि के कारण मिथ्या परिणाम होते हैं अथवा राग-द्वेष के कारण असत्य के परिणाम होते हैं, किन्तु मुनिराजों के तो स्वभाव के आश्रय से राग-द्वेष-मोह का अभाव होने से असत्य बोलने के परिणाम होते ही नहीं; इसलिए उन्होंने असत्य परिणाम छोड़े - ऐसा कहा जाता है। मुनिराज के स्वभावाव-लम्बन होने के कारण पर्याय की भी ऐसी योग्यता होती है कि उसमें तीव्र राग होता ही नहीं।^२”

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५०१

२. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५०३

12 वीतराग-विज्ञान (अगस्त-मासिक) * 26 जुलाई 2010 • वर्ष 29 • अंक 1

मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्याना-वरण संबंधी राग-द्वेष के अभाव में मुनिराजों के असत्यभाषण के परिणाम ही नहीं होते; इसकारण उनके असत्यभाषण होता ही नहीं है। यही उनका असत्यत्याग महाव्रत है।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(शालिनी)

वक्ति व्यक्तं सत्यमुच्चैर्जनो यः
स्वर्गस्त्रीणां भूरिभोगैकभाक् स्यात्
अस्मिन् पूज्यः सर्वदा सर्वसद्भिः
सत्यात्सत्यं चान्यदस्ति व्रतं किम् ॥७७॥

(हरिगीत)

जो पुरुष बोलें सत्य अति स्पष्ट वे सब स्वर्ग की।
देवांगनाओं के सुखों को भोगते भरपूर हैं॥
इस लोक में भी सज्जनों से पूज्य होते वे पुरुष।
इसलिए इस सत्य से बढकर न कोई व्रत कहा ॥७७॥

जो पुरुष अति स्पष्टरूप से सत्य बोलते हैं, वे स्वर्ग की देवांगनाओं के सुख के भागी होते हैं और इस लोक में भी सभी सत्पुरुषों से पूज्य होते हैं। इसीलिए तो कहते हैं कि क्या इस सत्य से बढकर भी कोई व्रत है।

सत्य महाव्रत के फल का निरूपण करते हुए उक्त छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि झूठ नहीं बोलने और सदा सत्य बोलने का भाव शुभभाव है; अतः उसके फल में परलोक में देवांगनाओं से भरे स्वर्ग की प्राप्ति होती है और इहलोक में पूज्यपना प्राप्त होता है; इसलिए इससे बढकर कोई व्रत नहीं है।

नियमसार गाथा ५८

विगत गाथा में सत्यव्रत की बात की है और अब इस गाथा में अचौर्यव्रत की बात करते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

गामे वा णयरे वाऽरण्ये वा पेच्छिऊण परमत्थं।
जो मुयदि गहणभावं त्तिदियवदं होदि तस्सेव ॥५८॥

(हरिगीत)

ग्राम में वन में नगर में देखकर परवस्तु जो।
उसके ग्रहण का भाव त्यागे तीसरा व्रत उसे हो ॥५८॥

ग्राम में, नगर में अथवा वन में पराई वस्तु को देखकर जो साधु उसे ग्रहण करने के भाव को छोड़ता है, उसी को तीसरा अचौर्य महाव्रत होता है।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह तीसरे व्रत के स्वरूप का कथन है। जिसके चारों ओर बाढ हो, वह ग्राम है और जो चार दरवाजों से सुशोभित हो, वह नगर है। जो मनुष्यों के संचार से रहित हो, वनस्पति समूह, बेलों और वृक्षों के झुंड आदि से भरा हो; वह अरण्य है।

इसप्रकार के ग्राम, नगर या अरण्य (वन) में अन्य से छोड़ी हुई, रखी हुई, गिरी हुई या भूली हुई परवस्तु को देखकर उसको ग्रहण करने के परिणामों को जो छोड़ता है; उसको तीसरा अचौर्यव्रत होता है।”

इस गाथा में अचौर्यव्रत का स्वरूप स्पष्ट करते हुए ग्राम, नगर और अरण्य (वन) को परिभाषित किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव के काल में सुरक्षा की दृष्टि से प्रत्येक ग्राम के चारों ओर परकोटा होता होगा और बड़े ग्रामों अर्थात् नगरों में परकोटे के साथ-साथ चारों ओर चार दरवाजे भी होते होंगे।

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार है -

(आर्या)

आकर्षति रत्नानां संचयमुच्चैरचौर्यमेतदिह।

स्वर्गस्त्रीसुखमूलं क्रमेण मुक्त्यंगनायाश्च ॥७८॥

(हरिगीत)

अचौर्यव्रत इस लोक में धन सम्पदा का हेतु है।

परलोक में देवांगनाओं के सुखों का हेतु है॥

शुद्ध एवं सहज निर्मल परिणति के संग से।

परम्परा से मुक्तिवधु का हेतु भी कहते इसे॥७८॥

यद्यपि यह उग्र अचौर्यव्रत इस लोक में रत्नों के संचय को आकर्षित करता है और परलोक में देवांगनाओं के सुख का कारण है; तथापि क्रमानुसार मुक्तिरूपी अंगना (स्त्री) के सुख का कारण भी है।

उक्त कलश के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“स्वभाव का अवलम्बन है और अशुभ परिणाम आने नहीं दिए, तब शुभ भाव से पुण्य बंधकर बाहर के रत्नों का खजाना मिलता है; परन्तु उस शुभ से अन्तर

के चैतन्यरत्न की प्राप्ति नहीं होती। चैतन्यरत्न की प्राप्ति तो स्वभाव के ही अवलम्बन से होती है।

व्यवहारव्रत तो शुभ राग है, संयोगी भाव है; उसके फल में बाह्य संयोग मिलते हैं। व्यवहारव्रत को परम्परा से क्रम से मुक्ति का कारण कहा। वहाँ व्यवहारव्रत में जो शुभ राग है, उसका फल तो स्वर्ग ही है; परन्तु उसी समय साथ में स्वभाव के अवलम्बन से जो वीतरागी भाव प्रकट हुआ है; वह क्रम से मुक्ति का कारण होता है; इसलिए उसके साथ होने वाले शुभ राग को भी उपचार से मुक्ति का परम्परा कारण कहा है।^१”

इस कलश में यही कहा गया है कि जिसप्रकार सत्यव्रत से इस लोक में यश और परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति होती है; उसीप्रकार इस अचौर्यव्रत से इस भव में रत्नों (धन) का संचय होता है और अगले भव में स्वर्ग की प्राप्ति होती है। साथ में अचौर्यव्रत को परम्परा मुक्ति का कारण भी बताया गया है।

भले ही अहिंसा व सत्यव्रत के फल को परम्परा से मुक्ति का कारण न कहा हो; पर स्थिति तो यही है कि ये सभी व्रत परम्परा मुक्ति के कारण कहे जाते हैं; क्योंकि इन व्रतों के साथ मुनिराजों के तीन कषाय के अभावरूप शुद्धपरिणति होती है। मुक्ति का कारण तो वह शुद्ध परिणति है; पर उसके संयोग से इन व्रतों को भी परम्परा से मुक्ति का कारण कह देते हैं।

नियमसार गाथा ५९

विगत तीन गाथाओं में क्रमशः अहिंसा, सत्य और अचौर्य - इन तीन व्रतों की चर्चा की गई है। अब इस गाथा में ब्रह्मचर्य नामक चौथे व्रत की चर्चा करते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

ददृशुण इत्थिरूवं वांछाभावं णियत्तदे तासु।
मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो अहव तुरीयवदं ॥५९॥

(हरिगीत)

देख रमणी रूप वांछा भाव से निर्वृत्त हो।

या रहित मैथुनभाव से है वही चौथा व्रत अहो ॥५९॥

महिलाओं का रूप देखकर उनके लक्ष्य से होनेवाले वांछारूप भावों से निवृत्ति अथवा मैथुनसंज्ञा से रहित परिणामों को ब्रह्मचर्य नामक चौथा व्रत कहते हैं।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह चौथे व्रत के स्वरूप का कथन है। कमनीय कामनियों (सुन्दर महिलाओं)

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५०६-५०७

के मनोहर अंगों को देखकर चित्त में उत्पन्न होनेवाले वांछा रूप कौतुहल के त्याग से अथवा पुरुषवेद के उदयरूप नो कषाय के तीव्र उदय के कारण होनेवाली मैथुन संज्ञा के परित्यागरूप शुभ परिणाम से ब्रह्मचर्य नामक चौथा व्रत होता है।”

इस गाथा और उसकी टीका में मात्र इतना ही कहा गया है कि महिलाओं के लक्ष्य से उत्पन्न होनेवाले रमणरूप भाव और मैथुनरूप प्रवृत्ति का त्याग ही ब्रह्मचर्य नामक चौथा व्रत है।

उक्त कथन व्यवहार ब्रह्मचर्य का है। निश्चय ब्रह्मचर्य तो छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते रहनेवाले मुनिराजों की मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी आदि तीन कषाय चौकड़ी के अभाव में होनेवाली वीतराग परिणति ही है।

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(मालिनी)

भवति तनुविभूतिः कामिनीनां विभूतिं

स्मरसि मनसि कामिंस्त्वं तदा मद्रुचः किम् ।

सहजपरमतत्त्वं स्वस्वरूपं विहाय

व्रजसि विपुलमोहं हेतुना केन चित्रम् ॥७९॥

(हरिगीत)

कामी पुरुष यदि तू सदा ही कामनी की देह के।

सौन्दर्य के संबंध में ही सोचता है निरन्तर ॥

तेरे लिये मेरे वचन किस काम के किस हेतु से।

निज रूप को तज मोह में तू फंसे रहा है निरन्तर ॥७९॥

हे कामी पुरुष ! यदि तू सुन्दर महिलाओं के शरीर के सौन्दर्य को देख-देखकर मन में उसका ही स्मरण करता रहता है, विचार करता रहता है तो फिर मेरे वचनों से तुझे क्या लाभ होगा ?

अहो ! आश्चर्य तो यह है कि सहजपरमतत्त्वरूप निजस्वरूप को छोड़कर तू अत्यधिक मोह को किसलिए प्राप्त हो रहा है ?

उक्त छन्द में निरन्तर वैराग्यभाव में सराबोर रहनेवाले मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव अत्यन्त आश्चर्यचकित होकर कह रहे हैं कि यह जगत अनंत आनंद के कंद निज परमात्मतत्त्व के सौन्दर्य से विरक्त होकर अत्यन्त मलिन नारी की देह में अनुरक्त क्यों हो रहा है ? तू इस बात पर जरा गंभीरता से विचार कर।

खेद व्यक्त करते हुए आचार्यदेव कह रहे हैं कि ऐसे लोगों को वैराग्यरस के पोषक हमारे उपदेश से कोई लाभ होनेवाला नहीं है।

नियमसार गाथा ६०

विगत चार गाथाओं में चार व्रतों की चर्चा करने के उपरान्त अब इस गाथा में पाँचवें व्रत की चर्चा करते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

सव्वेसिं गंथाणं चागो णिरवेक्खभावणापुव्वं।

पंचमवदमिदि भणिदं चारित्तभरं वहंतस्स ॥६०॥

(हरिगीत)

निरपेक्ष भावों पूर्वक सब परिग्रहों का त्याग ही।

चारित्रधारी मुनिवरों का पाँचवाँ व्रत कहा है ॥६०॥

पर की अपेक्षा से रहित शुद्धनिरपेक्ष भावनापूर्वक सभी प्रकार के परिग्रहों के त्याग संबंधी शुभभाव के साथ भूमिका के योग्य चारित्र का भार वहन करनेवाले मुनिवरों को पाँचवाँ परिग्रहत्याग व्रत होता है।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ परिग्रहत्याग नामक पाँचवें व्रत का स्वरूप कहा गया है।

सम्पूर्ण परिग्रह के त्यागरूप है स्वरूप जिसका, उस निजरूप कारण परमात्मा के स्वरूप में स्थित; निश्चय-व्यवहाररूप चारु चारित्र के भार को वहन करनेवाले, परमसंयमी, परमजिनयोगीश्वरों का; बाह्याभ्यन्तर २४ प्रकार के परिग्रहों का परित्याग ही, परम्परा से पंचमगति का हेतुभूत पाँचवाँ परिग्रहत्यागव्रत है।”

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“कारणशुद्धपरमात्मा तो त्रिकाल है और उसमें अवस्थित होनेवाली दशा नई प्रकट होती है। जिसको ऐसे कारणपरमात्मा में स्थिरता प्रकट हुई है, वह परमसंयमी मुनि है; उसी परमजिनयोगीश्वर को निश्चय-व्यवहारचारित्र होता है। स्वभाव के अवलम्बन से जितनी वीतरागता हुई; उतना निश्चयचारित्र है, उसके साथ अट्टाईस मूलगुण आदि का जो विकल्प वर्तता है, वह व्यवहारचारित्र है।^१

२४ प्रकार के परिग्रहत्याग का शुभविकल्प व्यवहारव्रत है; चूँकि उसके साथ शुद्ध परिणति है, इसलिए उस व्यवहारव्रत को उपचार से मोक्ष का परम्पराकारण कहा है।^२

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५१४

२. वही पृष्ठ ५१४

जहाँ शुद्धपरिणति ही न हो, वहाँ मात्र शुभोपयोग में मोक्ष के परम्पराहेतुत्व का आरोप भी नहीं किया जा सकता; क्योंकि जहाँ मोक्ष का यथार्थ परम्पराहेतु प्रकट ही नहीं हुआ, विद्यमान ही नहीं; वहाँ शुभोपयोग में आरोप किसका करना ?^१

शुभोपयोगी मुनि को भी वास्तव में तो शुद्धात्मद्रव्य का अवलम्बन करनेवाली परिणति ही विशेष शुद्धता का कारण है; परन्तु यह व्यवहार-चारित्र का अधिकार चल रहा है; इसलिए उस मुनि के शुभोपयोग को भी शुद्धोपयोग का निमित्त मानकर उपचार से परम्परा मोक्ष का कारण कहा है।^२

छठे गुणस्थान की एक पर्याय में दो भाग हैं। जितनी चैतन्य के आश्रय से वीतरागता है, उतना शुद्धभाव है और बीच में जितना शुभराग है, उतना अशुद्धभाव है। यदि शुद्धता न हो तो मुनिदशा नहीं हो सकती और यदि अशुद्धतारूप रागांश न हो तो परिपूर्ण वीतरागता हो जाय। मुनि को छठे गुणस्थान में एक पर्याय में दो प्रकार एक साथ वर्तते हैं।^३”

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि अपरिग्रहस्वभावी निजकारणपरमात्मा में स्थित, निश्चय-व्यवहारचारित्र के धनी सन्तों का सभी प्रकार के चौबीसों परिग्रहों का त्याग ही परिग्रहत्याग महाव्रत है।

इसके बाद ‘तथा समयसार में कहा है’ – ऐसा कहकर मुनिराज समयसार की एक गाथा उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार है –

मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज ।
णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झ ॥^४
(हरिगीत)

यदि परिग्रह मेरा बने तो मैं अजीव बन्नूँ अरे ।
पर मैं तो ज्ञायकभाव हूँ इसलिए पर मेरे नहीं ॥

यदि परद्रव्यरूप परिग्रह मेरा हो तो मैं अजीवत्व को प्राप्त हो जाऊँ। चूँकि मैं तो ज्ञाता ही हूँ; इसलिए परद्रव्यरूप परिग्रह मेरा नहीं है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५१५

२. वही पृष्ठ ५१५

३. वही पृष्ठ ५१७-५१८

४. समयसार गाथा २०८

उक्त गाथा में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि यदि तू जड़ परिग्रह को अपना मानेगा तो तू अपनी मान्यता में जड़ हो जावेगा; क्योंकि जड़ का स्वामी तो जड़ ही होता है। इसलिए हे भव्यप्राणी परिग्रह के स्वामित्व की मान्यता को जड़मूल से उखाड़ फेंक।

इसके बाद 'तथा हि' लिखकर मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं, जो इसप्रकार है -

(हरिणी)

त्यजतु भवभीरुत्वाद्भव्यः परिग्रहविग्रहं
निरुपमसुखावासप्राप्त्यै करोतु निजात्मनि।
स्थितिमविचलां शर्माकारां जगज्जनदुर्लभां
न च भवति महच्चित्रं चित्रं सतामसताभिदम् ॥८०॥

(हरिगीत)

हे भव्यजन ! भवभीरुता बस परिग्रह को छोड़ दो।
परमार्थ सुख के लिए निज में अचलता धारण करो।
जो जगतजन को महादुर्लभ किन्तु सज्जन जनों को।
आश्चर्यकारी है नहीं आश्चर्य दुर्जन जनों को ॥८०॥

हे भव्यजीव ! भवभय के कारण परिग्रह विस्तार को छोड़ो और निश्चयसुख के आवास (घर) की प्राप्ति के लिए, निज आत्मा में, जगतजनों में दुर्लभ ऐसी सुखकर अविचल स्थिरता धारण करो।

यह अविचल स्थिरता धारण करना सत्पुरुषों को कोई आश्चर्य की बात नहीं है; पर असत्पुरुषों को तो आश्चर्य की बात है ही।

उक्त कलश में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव भवभ्रमण से भयभीत भव्यों को प्रेरणा दे रहे हैं कि यदि तुम भवभ्रमण से बचना चाहते हो तो अनंत संसार के कारणरूप इन बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहों का परित्याग कर दो और अपने आत्मा में अपनापन स्थापित करो, उसे गहराई से जानो, निजरूप जानो और उसी में जम जावो, रम जावो; क्योंकि सुखी होने का एकमात्र उपाय यही है।

यद्यपि यह कार्य असत्पुरुषों को इतना आसान नहीं है; तथापि सत्पुरुषों के लिए तो सहज ही है। इसलिए हे सत्पुरुषों ! इस दिशा में आगे बढ़ो ॥८०॥ ●

